जैन व्रत

– सुरेंद्र बोथरा

जैन श्रमणाचार, श्रावकाचार और साधना तथा जीवनशैली का आधार है पाँच महाव्रत। जैन परंपरा के प्राचीनतम ग्रंथों, अंग सूत्रों में इनका उल्लेख इस रूप में है –– सर्व प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह विरमण (स्थानांग सूत्र 5,1,1)। कालांतर में ये जिस रूप में प्रसिद्ध हुए वह है –– (1) हिंसा, (2) अनृत (असत्य), (3) स्तेय (चोरी), (4) अब्रह्म, और (5) परिग्रह –– इनसे विरत होना व्रत है (तत्त्वार्थ सूत्र)। ये व्रत ही पातंजलि योगसूत्र में यम कहे जाते हैं और अन्य अनेक धर्म–दर्शनों में विभिन्न रूप में विद्यमान हैं।

राग–द्वेष तथा असावधानी से प्राणों को पीड़ा देना या हनन करना हिंसा है। मिथ्या में प्रवृत्त होना असत्य है। अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर की वस्तु को लेना चौर्य है। मैथुन अथवा कामवासना में प्रवृत्त होना अब्रह्मचर्य है। मूर्च्छाजनित आसक्ति परिग्रह है। जिन ऋणात्मक भावनाओं का यहाँ निषेध किया है, वे सभी हिंसा की प्रेरक हैं। असत्य भाषण तत्काल सुनने वाले को उत्तेजित करता है और हिंसक प्रतिक्रिया होती है। अनभिज्ञता के कारण प्रतिक्रिया न भी हो तो असत्य को सत्य मानकर जो कोई भी कार्य किया जाता है, वह अंततः हानिकारक होता है, अतः हिंसा की श्रेणी में आता है। स्तेय अर्थात् चोरी सीधे ही हिंसक कार्य है और वह चोट पहुंचाने या मार देने से भी अधिक गहरी हिंसा है क्योंकि वह दीर्घकाल तक एकाधिक प्राणियों को कष्ट देती है। अब्रह्मचर्य अथवा कामासक्ति भी हिंसा के व्यापक प्रसार का हेतु है। परिग्रह अर्थात् संग्रह करने का मोह सभी हिंसाओं का स्रोत है, क्योंकि यह मूलतः स्वार्थजनित है और अंधा स्वार्थ हिंसा को असीम उर्जा प्रदान करता है। इस प्रकार अहिंसा में शेष चारों व्रत समाविष्ट हो जाते हैं क्योंकि वे अहिंसा के प्रेरक और सहयोगी हैं। अहिंसा ही सब व्रतों का आधार और ध्येय दोनों है।

महत्ता के आधार पर उपरोक्त पाँच महाव्रतों का क्रम है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। किंतु इनके पालन की दृष्टि से देखें तो क्रम उल्टा हो जाता है और सर्वप्रथम अपरिग्रह से शुरू करना होता है क्योंकि अपरिग्रह के पालन के अभाव में शेष व्रतों से होते हुए अहिंसा तक नहीं पहुंचा जा सकता। यों आत्मिक विकास के अहिंसा–आधारित मार्ग पर पहला चरण अपरिग्रह है। इस पाँचवें व्रत को हम प्रथम व्रत अहिंसा के आचरण की आधारभूमि कह सकते हैं। जीवन व्यवहार में अहिंसा पालन की शुरूआत पाँचवें व्रत अपरिग्रह से होती है।

अपरिग्रह का अर्थ परिग्रह का अभाव और परिग्रह का अर्थ है किसी वस्तु या भाव को घेरकर जकड़ कर पकड़ना। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार मूर्छा परिग्रह है। किसी के प्रति असंयमित होने तक लगाव की अति ही परिग्रह है। इसमें लगाव, मोह आदि जुड़ाव के सभी भाव शामिल हैं। परिग्रह का सामान्य अर्थ है वस्तुओं के प्रति मोह और उनके संकलन की प्रवृत्ति। यह मोह संकलन हेतु हिंसा करवाता है, उसमें बाधा आने पर हिंसा करवाता है और उससे वंचित किए जाने पर हिंसा करवाता है।

यही नहीं अनियंत्रित उपभोग को भी यही मोह प्रेरित करता है।

परिग्रह केवल वस्तुओं का ही नहीं विचारों का भी होता है, जो अन्य सभी प्रकार के परिग्रह का प्रेरक होता है। इस मानसिक परिग्रह का स्रोत है व्यक्ति का अपने विचारों और धारणाओं पर मोह। यही मोहजनित परिग्रह हमारे विकास को भी अवरुद्ध करता है क्योंकि हम पुरातन के अनुपयोगी अंश से मात्र मोह के कारण चिपके रहते हैं। उपयोगी नूतन को अवकाश नहीं देते। इसी कारण विकास के पथ पर अग्रसर होने के लिए परिग्रह पर नियंत्रण का अभ्यास साधना की प्राथमिक भूमिका है।

जैन आचार–संहिता में मोक्ष–प्राप्ति की साधना के स्तर तक पहुंचने के लिए जो मार्ग निर्धारित किया है उसे समाहित रूप में देखा जाए तो विकास के हर स्तर के लिए उपयोगी क्रमिक आचार संहिता की अवधारणा प्रकट होती है। सर्वविरति के इस उच्चतम स्तर से जैसे–जैसे नीचे उतरते हैं तो व्रतों की एक सुगठित, श्रृंखलाबद्ध और सटीक व्यवस्था इन व्रतों के आयामों या शाखाओं के रूप में बताए गए अणुव्रत, शीलव्रत, उनकी सहयोगी समितियों, गुप्तियों आदि में दिखाई पड़ती है ––

उपरोक्त पांच महाव्रत साधु के लिए हैं। श्रावक के लिए कम कठोरता लिए वे ही पाँच अणुव्रत (स्थूल–प्राणातिपात विरमण अथवा अहिंसा अणुव्रत, स्थूल–मृषावाद विरमण अथवा सत्य अणुव्रत, स्थूल–अदत्तादान विरमण अथवा अस्तेय अणुव्रत, स्वदार संतोष अथवा ब्रह्मचर्य अणुव्रत, और इच्छा–परिमाण अथवा अपरिग्रह अणुव्रत –– स्थानांग सूत्र) तथा इनके सहायक और पोषक व्रतों के रूप में सात शीलव्रत (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) बताए हैं। इस प्रकार सामान्य जन के लिए बारह श्रावक व्रत प्रचलित हैं।

श्रावक के बारह व्रत हैं : पाँच अणुव्रत ––(1) अहिंसा अणुव्रत : संक्षेप में इसका अर्थ है निरपराध जीवों की, हास्य, लोभ, धर्म, अर्थ, काम, मूढ़ता, दर्प, क्रोध, मोह, अज्ञानता इत्यादि कारणों से हिंसा न की जाए। (2) सत्य अणुव्रत : परिस्थिति के अनुसार यथा संभव मिथ्या का त्याग। (3) अस्तेय या अचौर्य अणुव्रत : जिस किसी भी वस्तु पर अपना भौतिक या नैतिक अधिकार नहीं बनता, उसे लेने का निषेध। (4) ब्रह्मचर्य अणुव्रत : सामाजिक नियमानुसार अपनी विवाहित पत्नी से संतोष। (5) अपरिग्रह अणुव्रत : अर्थ, वस्तु, सुविधा, साधन आदि के संग्रह को सीमित करना। तीन गुणव्रत –– (6) अनर्थदंडविरमण : व्यर्थ की हिंसा का त्याग। (7) दिग्व्रत : सभी दिशाओं में अपने कार्य हेतु जाने–आने की सीमा का निर्धारण। (8) उपभोग–परिभोग–परिमाण व्रत : उपभोग–परिभोग की सभी वस्तुओं की आवश्यकतानुसार सीमा का निश्चय। चार शिक्षाव्रत –– (9) सामायिक : समस्त सांसारिक कार्यों से परे हट कर कम से कम 48 मिनट (एक मुहूर्त) तक धर्मध्यान करना। (10) देशावकाशिकव्रत : दिग्व्रत में ग्रहण की हुई दिशाओं की सीमा तथा अन्य सभी व्रतों में ली हुई मर्यादाओं को और भी संक्षिप्त करना। (11) प्रोषधोपवास व्रत : आहार, शरीर–श्रृंगार, व्यापार आदि सभी कार्यों को त्यागकर एक दिन–रात या अधिक समय के लिए उपाश्रय आदि शांत स्थान में रहकर धर्मचिंतन करना। 12. अतिथि संविभाग व्रत : द्वार पर आए अतिथि को अपने न्यायोपार्जित धन में से विधिपूर्वक आहार आदि देना।

इन व्रतों के पालन को स्थिरता प्रदान करने में सहायक (प्रत्येक व्रत की पाँच–पाँच के हिसाब से) पच्चीस भावनाएं कही गई हैं (समवायांग, 25) : (अ) अहिंसा व्रत की भावनाएं : ईर्यासमिति –– स्व–पर को कष्ट न हो, इस विवेकपूर्वक सभी शारीरिक क्रियाएं करने का चिंतन। मनोगुप्ति –– मन को अशुभ ध्यान से हटा कर शुभ ध्यान में लगाना। एषणा समिति –– वस्तु के आवश्यकतानुसार खोज, ग्रहण व उपयोग करने में सावधानी रखना। आदान निक्षेपण समिति –– वस्तु को लेने–त्यागने तथा उठाने–रखने में सावधानी रखना। आलोकित पान–भोजन –– पूर्ण प्रकाश में ही देख–समझ कर भोजन लेना और खाना। (ब) सत्यव्रत की पाँच भावनाएं : अनुवीचि भाषण –– विचारपूर्वक बोलना। क्रोध–लोभ–भय–हास्य त्याग –– क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य, इन चारों के आवेग से परे होकर बोलना। (स) अस्तेय (अचौर्य) व्रत की पाँच भावनाएं : अनुवीचि अवग्रह याचना –– उपयोग हेतु स्थान की विचारपूर्वक याचना करना। अभीक्ष्णावग्रह याचना –– अपने मांगने से उस स्थान या वस्तु के स्वामी को तनिक भी कष्ट न हो, इस बात का विचार रखना। अवग्रहावधारण –– अपने अवग्रह (कल्प या मर्यादा) के परिमाण को मांगने के समय निश्चित करना। साधर्मिक अवग्रह याचना –– जिस स्थान का उपयोग साधर्मिक पहले से कर रहा हो उस स्थान की याचना उससे ही करना। अनुज्ञापित भोजन–पान –– विधिपूर्वक लाए हुए भोजन–पान को गुरु को दिखाकर, उनकी आज्ञा लेकर ग्रहण करना।

दिगंबर परंपरा में अस्तेयव्रत की पाँच भावनाएं दूसरे प्रकार से कही गई हैं : शून्यागार –– पर्वत कंदरा, आदि खाली स्थान को ग्रहण करना। विमोचितावास –– दूसरों द्वारा (त्यक्त) छोडे हुए मकान आदि में रहना। परोपरोधाकरण –– दूसरों को उस स्थान पर ठहरने से नहीं रोकना। भैक्ष्यशुद्धि –– शास्त्रविहित भिक्षा की विधि में न्यूनाधिक नहीं करना। सधर्माऽविसंवाद –– सधर्मियों में विसंवाद नहीं करना।

(द) ब्रह्मव्रत की पाँच भावनाएं असंसक्तवास समिति –– अपने से विजातीय (पुरुष, स्त्री, पशु और नपुंसक) व्यक्ति ने जिस शय्या–आसन का उपयोग किया हो, उसका त्याग करना। स्त्रीकथाविरति –– स्त्रियों के काम, मोह, श्रृंगार, सौंदर्य आदि संबंधी बातें न करना। स्त्रीरूपदर्शनविरति –– विजातीय व्यक्ति के मनोहर और कामोत्तेजक अंगों को न देखना। पूर्वरत–पूर्वक्रीड़ितविरति –– पहले की हुई रति–क्रीड़ाओं का स्मरण न करना। प्रणीत आहार त्याग –– कामोत्तेक भोजन न करना।

(य) अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएं : स्पर्शन–रसना–घ्राण–चक्षु–श्रोत्र –– इन पाँच इंद्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष की भावना न रखना।

जैन परंपरा में इन सब व्रतों के पालन के तीन आयामों और तीन साधनों पर बल दिया गया है। मन, वचन और काया से स्वयं न करना, अन्यों से न करवाना और किसी के करने का अनुमोदन नहीं करना। यह इन्हें मात्र भौतिक या दैहिक स्तर से उठाकर सामाजिक, मानसिक व आत्मिक स्तर पर ले जाता है। इन व्रतों के साथ सावधानी के लिए अतिचारों का उल्लेख भी है।

सामान्य अर्थ में ये व्रत निषेधात्मक लगते हैं और हैं भी, क्योंकि कठोर व्रत के पालन करने में निषेध सहयोगी होता है। किंतु व्रतों में निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों अंश अंतर्निहित होते हैं, तभी व्रत पूर्णता प्राप्त करता है। सत्कार्य में प्रवृत्ति के लिए

प्राथमिक आवश्यकता यह है कि उसके विरोधी सभी दुष्कार्यों से निवृत्ति की जाए। इस दुष्कार्य से निवृत्ति का वांछित विकास के रूप में फल तभी प्राप्त होता है जब साथ–साथ सत्कार्य में प्रवृत्ति हो। यह प्रवृत्ति ही निवृत्ति की भावना को दृढ़ता और स्थिरता प्रदान करती है। इसी दृष्टि से प्रवृत्ति की चार भावनाओं का व्रतों के साथ ही उल्लेख है। मैत्री भावना –– मैत्री का अभिप्राय है सभी प्राणियों की हित चिंता करना। प्रमोद भावना –– गुणों का विचार करके उन गुणों में हर्षित होना, प्रमोद भाव है। कारुण्य भावना –– दीन व्यक्तियों पर अनुग्रह का भाव रखना, अथवा दुःखी प्राणियों के कष्ट को मिटाने का भाव करुणा है। माध्यस्थ भावना –– दुर्जनों और अविनयी पुरुषों (प्राणियों) पर द्वेष न करना, अपितु माध्यस्थ्य भाव रखना।

इस आध्यात्मिक साधना का चरम या अंतिम व्रत है संलेखना। मृत्यु का समय निकट जानकर क्रमशः आहार त्यागकर क्रमशः कषायों और शरीर दोनों को मृत्युपर्यंत कृष करते रहना अर्थात् संपूर्ण आत्मोन्नमुखी चिंतन में लीन होकर कायोत्सर्ग करना। इस व्रात्य परंपरा में इन आधारभूत व्रतों के अतिरिक्त तपादि साधनाओं संबंधी अन्य अनेक व्रतों का उल्लेख भी है।

इस लंबी सूची के सभी व्रत अपनी सीमा में कठोर लगते हैं, किंतु जैसे ही स्तर परिवर्तन होता है, उनमें अंतर्निहित लचीलापन समझ में आने लगता है। व्रतों के उत्कृष्ट पालन का चरम बिंदु है –– वीतराग अवस्था या केवलज्ञान प्राप्ति। उस स्तर पर व्रत स्वभाव बन जाते हैं और साधना के इस बिंदु पर पहुंचते–पहुंचते अन्य सभी व्रत अहिंसा में सिमट जाते हैं। इससे पूर्व इन व्रतों के व्यावहारिक और आध्यात्मिक पहलू एक अद्भुत सामंजस्य के साथ चलते हैं और योग्यतानुसार निचले स्तरों को बड़े सटीक रूप में परिभाषित किया गया है। साधक जीवन और गृहस्थ जीवन के किसी भी स्तर से आरंभ कर अहिंसक विकास की ओर बढ़ने का मार्ग इस व्रत व्यवस्था में साफ दिखाई पड़ता है।